श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.21 - चतुर्थ सोपान (अर्थ)

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा ,भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।

क्षुद्रान् कामां(म्)श्चलैः(फ्) प्राणैर् - जुषन्तः(स्) सं(म्)सरन्ति ते ॥ 1॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- प्रिय उद्धव! मेरी प्राप्ति के तीन मार्ग हैं- भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। जो इन्हें छोड़कर चंचल इन्द्रियों के द्वारा क्षुद्र भोग भोगते हैं, वे बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्कर में भटकते रहते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा ,स गुणः(फ्) परिकीर्तितः ।

विपर्ययस्तु दोषः(स्) स्या -दुभयोरेष निश्चयः ॥ 2॥

अपने-अपने अधिकार के अनुसार धर्म में दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। तात्पर्य यह कि गुण और दोष दोनों की व्यवस्था अधिकार के अनुसार की जाती है, किसी वस्तु के अनुसार नहीं।

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते ,समानेष्वपि वस्तुषु ।

द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं(ङ्),गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥ 3॥

वस्तुओं के समान होने पर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदि का जो विधान किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ का ठीक-ठीक निरिक्षण-परिक्षण हो सके और उसमें सन्देह उत्पन्न करके ही यह योग्य है कि अयोग्य, स्वाभाविक प्रवृत्ति को नियन्त्रित-संकुचित किया जा सके।

धर्मार्थं(वँ) व्यवहारार्थं(यँ) ,यात्रार्थमिति चानघ ।

दर्शितोऽयं(म्) मयाऽऽचारो ,धर्ममुद्वहतां(न्) धुरम् ॥ 4॥

उनके द्वारा धर्म-सम्पादन कर सके, समाज का व्यवहार ठीक-ठीक चला सके और अपने व्यक्तिगत जीवन के निर्वाह में भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियों के द्वारा इनके जाल में न फँसकर शास्त्रानुसार अपने जीवन को नियन्त्रित और मन को वशीभूत कर लेता है।निष्पाप उद्धव! यह आचार मैंने ही मनु आदि का रूप धारण करके धर्म का भार ढोने वाले कर्म जड़ों के लिये उपदेश किया है।

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा , भूतानां(म्) पं(ञ्)च धातवः ।

आब्रह्मस्थावरादीनां(म्), शारीरा आत्मसं(यँ)युताः॥ 5॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-ये पंचभूत ही ब्रह्मा से लेकर पर्वत-वृक्षपर्यन्त सभी प्राणियों के शरीरों के मूलकारण हैं। इस तरह वे सब शरीर की दृष्टि से तो समान हैं ही, सबका आत्मा भी एक ही है।

वेदेन नाम रूपाणि ,विषमाणि समेष्वपि ।

धातुषूद्धव कल्प्यन्त, एतेषां(स्) स्वार्थसिद्धये ॥ 6॥

प्रिय उद्धव! यद्यपि सबके शरीरों के पंचभूत समान हैं, फिर भी वेदों ने इनके वर्णाश्रम आदि अलग-अलग नाम और रूप इसलिये बना दिये हैं कि ये अपनी वासना-मूलक प्रवृत्तियों को संकुचित करके-नियन्त्रित करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकें।

देशकालादिभावानां(वँ), वस्तूनां(म्) मम सत्तम ।

गुणदोषौ विधीयेते, नियमार्थं(म्) हि कर्मणाम् ॥ 7॥

साधुश्रेष्ठ! देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओं के गुण-दोषों का विधान भी मेरे द्वारा इसीलिये किया गया है कि कर्मों में लोगों की उच्छृंखल प्रवृत्ति न हो, मर्यादा का भंग न होने पावे।

अकृष्णसारो देशाना-मब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्।

कृष्णसारोऽप्यसौवीर -कीकटासं(म्)स्कृतेरिणम् ॥ 8॥

देशों में वह देश अपवित्र है, जिसमें कृष्णसार मृग न हो और जिसके निवासी ब्राह्मण-भक्त न हों। कृष्णसार मृग के होने पर भी, केवल उन प्रदेशों को छोड़कर जहाँ संत पुरुष रहते हैं, कीकट देश अपवित्र ही है। संस्काररहित और ऊसर आदि स्थान भी अपवित्र ही होते हैं।

कर्मण्यो गुणवान् कालो ,द्रव्यतः(स्) स्वत एव वा ।

यतो निवर्तते कर्म , स दोषोऽकर्मकः(स्) स्मृतः ॥ 9॥

समय वही पवित्र है, जिसमें कर्म करने योग्य सामग्री मिल सके तथा कर्म भी हो सके। जिसमें कर्म करने की सामग्री न मिले, आगन्तुक दोषों से अथवा स्वाभाविक दोष के कारण जिसमें कर्म ही न हो सके, वह समय अशुद्ध है।

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च , द्रव्येण वचनेन च ।

सं(म्)स्कारेणाथ कालेन ,महत्वाल्पतयाथ वा ॥ 10॥

पदार्थों की शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्व से भी होती है।

शक्त्याशक्त्याथ वा बुद्ध्या ,समृद्ध्या च यदात्मने ।

अघं(ङ्) कुर्वन्ति हि यथा ,देशावस्थानुसारतः ॥ 11॥

शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभव के अनुसार भी पवित्रता और अपवित्रता की व्यवस्था होती है। उसमें भी स्थान और उपयोग करने वाले की आयु का विचार करते हुए ही अशुद्ध वस्तुओं के व्यवहार का दोष ठीक तरह से आँका जाता है।

धान्यदार्वस्थितन्तूनां(म्), रसतैजसचर्मणाम् ।

कालवाय्वग्निमृत्तोयैः(फ्),पार्थिवानां(यँ) युतायुतैः ॥ 12॥

अनाज, लकड़ी, हाथी दाँत आदि हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेज, घी आदि रस, सोना-पारा आदि तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि मिट्टी के बने पदार्थ समय पर अपने-आप हवा लगने से, आग में जलाने से, मिट्टी लगाने से अथवा जल में धोने से शुद्ध हो जाते हैं। देश, काल और अवस्था के अनुसार कहीं जल-मिट्टी आदि शोधक सामग्री के संयोग से शुद्धि करनी पड़ती है तो कहीं-कहीं एक-एक से भी शुद्धि हो जाती है।

अमेध्यलिप्तं(यँ) यद् येन, गन्धं(लँ) लेपं(वँ) व्यपोहति ।

भजते प्रकृतिं(न्) तस्य, तच्छौचं(न्) तावदिष्यते ॥ 13॥

यदि किसी वस्तु में कोई अशुद्ध पदार्थ लग गया हो तो छीलने से या मिट्टी आदि मलने से जब उस पदार्थ की गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूप में आ जाये, तब उसको शुद्ध समझना चाहिये।

स्नानदानतपोऽवस्था - वीर्यसं(म्)स्कारकर्मभिः।

मत्स्मृत्या चात्मनः(श्) शौचं(म्), शुद्धः(ख्) कर्माचरेद् द्विजः ॥ 14॥

स्नान, दान, तपस्या, वय, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरण से चित्त की शुद्धि होती है। इनके द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को विहित कर्मों का आचरण करना चाहिये।

मन्त्रस्य च परिज्ञानं(ङ्), कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।

धर्मः(स्) सम्पद्यते षड्भि- रधर्मस्तु विपर्ययः ॥ 15॥

गुरुमुख से सुनकर भलीभाँति हृदयगम कर लेने से मन्त्र की और मुझे समर्पित कर देने से कर्म की शुद्धि होती है। उद्धव जी! इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म-इन छहों के शुद्ध होने से धर्म और अशुद्ध होने से अधर्म होता है।

क्वचिद् गुणोऽपि दोषः(स्) स्याद् - दोषोऽपि विधिना गुणः ।

गुणदोषार्थनियमस् - तद्भिदामेव बाधते ॥ 16॥

कहीं-कहीं शास्त्रविधि से गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। एक ही वस्तु के विषय में किसी के लिये गुण और किसी के लिये दोष का विधान गुण और दोषों की वास्तविकता का खण्डन कर देता है और इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोष का यह भेद कल्पित है।

समानकर्माचरणं(म्), पतितानां(न्) न पातकम् ।

औत्पत्तिको गुणः(स्) सं(ङ्)गो , न शयानः(फ्) पतत्यधः ॥ 17॥

जो लोग पतित हैं, वे पतितों का-सा आचरण करते हैं तो उन्हें पाप नहीं लगता, जबकि श्रेष्ठ पुरुषों के लिये वह सर्वथा त्याज्य होता है। जैसे गृहस्थों के लिये स्वाभाविक होने के कारण अपनी पत्नी का संग पाप नहीं है; परन्तु संन्यासी के लिये घोर पाप है। उद्धव जी! बात तो यह है कि जो नीचे सोया हुआ है, वह गिरेगा कहाँ? वैसे ही जो पहले से ही पतित हैं, उनका अब और पतन क्या होगा?

यतो यतो निवर्तेत, विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मो नृणां(ङ्) क्षेमः(श्), शोकमोहभयापहः ॥ 18॥

जिन-जिन दोषों और गुणों से मनुष्य का चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओं के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है। मनुष्यों के लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याण का साधन है; क्योंकि यही शोक, मोह और भय को मिटाने वाला है।

विषयेषु गुणाध्यासात्-पुं(म्)सः(स्) सं(ङ्)गस्ततो भवेत् ।

सं(ङ्)गात्तत्र भवेत् कामः(ख्), कामादेव कलिर्नृणाम् ॥ 19॥

उद्धव जी! विषयों में कहीं भी गुणों का आरोप करने से उस वस्तु के प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से उसे अपने पास रखने की कामना हो जाती है और इस कामना की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़ने पर लोगों में परस्पर कलह होने लगता है।

कलेर्दुर्विषहः(ख्) क्रोधस् -तमस्तमनुवर्तते।

तमसा ग्रस्यते पुं(म्)सश् - चेतनाव्यापिनी द्रुतम् ॥ 20॥

कलह से असह्य क्रोध की उत्पत्ति होती है और क्रोध के समय अपने हित-अहित का बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है। इस अज्ञान से शीघ्र ही मनुष्य की कार्याकार्य का निर्णय करने वाली व्यापक चेतना शक्ति लुप्त हो जाती है।

तया विरहितः(स्) साधो , जन्तुः(श्) शून्याय कल्पते ।

ततोऽस्य स्वार्थविभ्रं(म्)शो- मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥ 21॥

साधो! चेतना-शक्ति अर्थात् स्मृति के लुप्त हो जाने पर मनुष्य में मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्य के समान अस्तित्वहीन हो जाता है। अब उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसे कोई मुर्च्छित या मुर्दा हो। ऐसी स्थिति में न तो उसका स्वार्थ बनता है और न तो परमार्थ।

विषयाभिनिवेशेन, नात्मानं(वँ) वेद नापरम् ।

वृक्षजीविकया जीवन्, व्यर्थं(म्) भस्त्रेव यः(श्) श्वसन् ॥ 22॥

विषयों का चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षों के समान जड़ हो जाता है। उसके शरीर में उसी प्रकार व्यर्थ श्वास चलता रहता है, जैसे लुहार की धौंकनी की हवा। उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरे का। वह सर्वथा आत्म-वंचित हो जाता है।

फलश्रुतिरियं(न्) नृणां(न्), न श्रेयो रोचनं(म्) परम् ।

श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं(यँ), यथा भैषज्यरोचनम् ॥ 23॥

उद्धव जी! यह स्वर्गादिरूप फल का वर्णन करने वाली श्रुति मनुष्यों के लिये उन-उन लोकों को परम पुरुषार्थ नहीं बतलाती; परन्तु बहिर्मुख पुरुषों के लिये अन्तःकरण शुद्धि के द्वारा परम कल्याणमय मोक्ष की विवक्षा से ही कर्मों में रुचि उत्पन्न करने के लिये वैसा वर्णन करती है। जैसे बच्चों से ओषधि में रुचि उत्पन्न करने के लिये रोचक वाक्य कहे जाते हैं।

उत्पत्त्यैव हि कामेषु, प्राणेषु स्वजनेषु च ।

आसक्तमनसो मर्त्या , आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥ 24॥

इसमें सन्देह नहीं कि संसार विषय-भोगों में, प्राणों में और सगे-सम्बन्धियों में सभी मनुष्य जन्म से ही आसक्त हैं और उन वस्तुओं की आसक्ति उनकी आत्मोन्नति में बाधक एवं अनर्थ का कारण है।

न तानविदुषः(स्) स्वार्थं(म्), भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।

कथं(यँ) युञ्ज्यात् पुनस्तेषु, तां(म्)स्तमो विशतो बुधः ॥ 25॥

वे अपने परम पुरुषार्थ को नहीं जानते, इसलिये स्वर्गादि का जो वर्णन मिलता है, वह ज्यों-का-त्यों सत्य है-ऐसा विश्वास करके देवादि योनियों में भटकते रहते हैं और फिर वृक्ष आदि योनियों के घोर अन्धकार में आ पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में कोई भी विद्वान् अथवा वेद फिर से उन्हें उन्हीं विषयों में क्यों प्रवृत्त करेगा?

एवं(वँ) व्यवसितं(ङ्) केचि - दविज्ञाय कुबुद्धयः।

फलश्रुतिं(ङ्) कुसुमितां(न्), न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥ 26॥

दुर्बुद्धि लोग (कर्मवादी) वेदों का यह अभिप्राय न समझकर कर्मासक्तिवश पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों का वर्णन देखते हैं और उन्हीं को परम फल मानकर भटक जाते हैं। परन्तु वेदवेत्ता लोग श्रुतियों का ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते।

कामिनः(ख्) कृपणा लुब्धाः(फ्), पुष्पेषु फलबुद्धयः ।

अग्निमुग्धा धूमतान्ताः(स्), स्वं(लँ) लोकं(न्) न विदन्ति ते ॥ 27॥

विषय-वासनाओं में फँसे हुए दीन-हीन, लोभी पुरुष रंग-बिरंगे पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों को ही सब कुछ समझ बैठते हैं, अग्नि के द्वारा सिद्ध होने वाले यज्ञ-यागादि कर्मों में ही मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें अन्त में देवलोक, पितृलोक आदि की ही प्राप्ति होती है। दूसरी ओर भटक जाने के कारण उन्हें अपने निजधाम आत्मपद का पता नहीं लगता।

न ते मामं(ङ्)ग जानन्ति , हृदिस्थं(यँ) य इदं(यँ) यतः ।

उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो , यथा नीहारचक्षुषः ॥ 28॥

प्यारे उद्धव! उनके पास साधना है तो केवल कर्म की और उसका कोई फल है तो इन्द्रियों की तृप्ति। उनकी आँखें धुँधली हो गयी हैं; इसी से वे यह बात नहीं जानते कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं इस जगत् के रूप में हैं, वह परमात्मा मैं उनके हृदय में हूँ।

ते मे मतमविज्ञाय ,परोक्षं(वँ) विषयात्मकाः ।

हिंसायां(यँ) यदि रागः(स्) स्याद् ,यज्ञ एव न चोदना ॥ 29॥

इस प्रकार मेरे परोक्ष अभिप्राय को न जानकर विषय लोलुप पुरुषों का यदि हिंसा और उनके फल मांस-भक्षण में राग ही हो,उसका त्याग न किया जा सकता हो, तो यज्ञ में ही करे-यह परिसंख्या विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकोच है, संध्यावन्दनादि के समान अपूर्व विधि नहीं है।

हिं(म्)साविहारा ह्यालब्धैः(फ्), पशुभिः(स्) स्वसुखेच्छया ।

यजन्ते देवता यज्ञैः(फ्), पितृभूतपतीन् खलाः ॥ 30॥

वे पुरुष हिंसा का खिलवाड़ खेलते हैं और दुष्टतावश अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये वध हुए पशुओं के मांस से यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियों के यजन का ढोंग करते हैं।

स्वप्नोपमममुं लोक- मसन्तं(म्) श्रवणप्रियम्।

आशिषो हृदि सं(ङ्)क्लिप्स, त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक् ॥ 31॥

उद्धव जी! स्वर्गादि परलोक स्वप्न के दृश्यों के समान हैं, वास्तव में वे असत् हैं, केवल उनकी बातें सुनने में बहुत मीठी लगती हैं। सकाम पुरुष वहाँ के भोगों के लिये मन-ही-मन अनेकों प्रकार के संकल्प कर लेते हैं और जैसे व्यापारी अधिक लाभ की आशा से मूलधन को भी खो बैठता है, वैसे ही वे सकाम यज्ञों द्वारा अपने धन का नाश करते हैं।

रजः(स्)सत्त्वतमोनिष्ठा, रजः(स्)सत्त्वतमोजुषः।

उपासत इन्द्रमुख्यान्, देवादीन् न तथैव माम् ॥ 32॥

वे स्वयं रजोगुण, सत्त्वगुणी अथवा तमोगुणी इन्द्रादि देवताओं की उपासना करते हैं। वे उन्हीं सामग्रियों से उतने ही परिश्रम से मेरी पूजा नहीं करते।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्- गत्वा रं(म्)स्यामहे दिवि ।

तस्यान्त इह भूयास्म, महाशाला महाकुलाः ॥ 33॥

हम लोग इसलोक में यज्ञों के द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्ग में जायेंगे और वहाँ दिव्य आनन्द भोगेंगे,उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम बड़े कुलीन परिवार में पैदा होंगे, हमारे बड़े-बड़े महल होंगे और हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बडा़ होगा।

एवं(म्) पुष्पितया वाचा, व्याक्षिप्तमनसां(न) नृणाम् ।

मानिनां(ञ्) चातिस्तब्धानां(म्),मद्वार्तापि न रोचते ॥ 34॥

वे जब इस प्रकार की पुष्पित वाणी-रंग-बिरंगी,मीठी-मीठी बातें सुनते हैं तब उनका चित्त क्षुब्ध हो जाता है और उन हेकड़ी जताने वाले घमंडियों को मेरे सम्बन्ध की बातचीत भी अच्छी नहीं लगती।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्-त्रिकाण्डविषया इमे ।

परोक्षवादा ऋषयः(फ्), परोक्षं(म्) मम च प्रियम् ॥ 35॥

उद्धव जी! वेदों में तीन काण्ड हैं- कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों काण्डों के द्वारा प्रतिपादित विषय है ब्रह्म और आत्मा की एकता, सभी मन्त्र और मन्त्र-दृष्टा ऋषि इस विषय को खोलकर नहीं, गुप्तभाव से बतलाते हैं और मुझे भी इस बात को गुप्तरूप से कहना ही अभीष्ट है।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं(म्), प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।

अनन्तपारं(ङ्) गम्भीरं(न्), दुर्विगाह्यं(म्) समुद्रवत् ॥ 36॥

वेदों का नाम है शब्दब्रह्म। वे मेरी मूर्ति हैं, इसी से रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ति और मध्यमा वाणी के रूप में प्राण, मन और इन्द्रियमय है। समुद्र के समान सीमारहित और गहरा है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन

मयोपबृं(म्)हितं(म्) भूम्ना, ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।

भूतेषु घोषरूपेण, बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥ 37॥

उद्धव! मैं अनन्त-शक्ति-सम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणी का विस्तार किया है। जैसे कमलनाल में पतला-सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियों के अन्तःकरण में अनाहतनाद के रूप में प्रकट होती है।

यथोर्णनाभिर्हृदया- दूर्णामुद्वमते मुखात् ।

आकाशाद् घोषवान् प्राणो ,मनसा स्पर्शरूपिणा ॥ 38॥

भगवान हिरण्यगर्भ स्वयंवेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं। उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्द के द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई। जैसे मकड़ी अपने हृदय से मुख द्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है , वैसे ही।

छन्दोमयोऽमृतमयः(स्), सहस्रपदवीं(म्) प्रभुः।

ओं(ङ्)काराद् व्य(ञ्)जितस्पर्शस्-वरोष्मान्तः(स्)स्थभूषिताम् ॥ 39॥

वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकार के द्वारा अभिव्यक्ति स्पर्श (“क” से लेकर “म” तक -२५) , स्वर (“अ” से “औ” तक- ९), ऊष्मा(श,ष,स,ह) और अन्तःस्थ (य,र ,ल ,व)- वर्णों से विभूषित है।

विचित्रभाषाविततां(ञ्), छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।

अनन्तपारां(म्) बृहतीं(म्) , सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥ 40॥

वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णों का संकल्प करने वाले मनरूप निमित्तिकारण के द्वारा हृदयाकाश से अनन्त अपार अनेकों मार्गों वाली वैखरीरूप वेदवाणी को स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपने में लीन कर लेते हैं । उसमें ऐसे छन्द हैं, जिसमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषा के रूप में वह विस्तृत हुई है।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च, बृहती पङ्क्तिरेव च ।

त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ,ह्यत्यष्त्यतिजगद् विराट् ॥ 41॥

(चार-चार अधिक वर्णों वाले छन्दों में से कुछ ये हैं-) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट्।

किं(वँ) विधत्ते किमाचष्टे ,किमनूद्य विकल्पयेत् ।

इत्यस्या हृदयं(लँ) लोके ,नान्यो मद् वेद कश्चन ॥ 42॥

वह वेदवाणी कर्मकाण्ड में क्या विधान करती है, उपासना काण्ड में किन देवताओं का वर्णन करती है और ज्ञानकाण्ड में किन प्रतीतियों का अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकार के विकल्प करती है-इन बातों को इस सम्बन्ध में श्रुति के सहस्य को मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता।

मां(वँ) विधत्तेऽभिधत्ते मां(वँ), विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।

एतावान् सर्ववेदार्थः(श्), शब्द आस्थाय मां (म्) भिदाम् ।

मायामात्रमनूद्यान्ते , प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥ 43॥

मैं तुम्हें स्पष्ट बतला देता हूँ, सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं, उपासना काण्ड में उपास्य देवताओं के रूप में वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्ड में आकाशादि रूप से मुझमें ही अन्य वस्तुओं का आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्त में सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठान रूप से मैं ही शेष रह जाता हूँ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे एकविं(म्)शोऽध्यायः

YouTube Full video link

https://youtu.be/NemOdhCAoRE